RESEARCH HUB – International Multidisciplinary Research Journal (RHIMRJ)
Research Paper

ब्रिटिशकालीन कृषि नीति के कारण उत्पन्न ऋणग्रस्तता

डॉ0 राकेश कुमार चौधरी

इतिहास विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

अंग्रेजों की कृषि नीति के कारण अनेक समस्याऐं पैदा हुई। जिसका परिणाम भारत में राष्ट्रीयता का उभार था। भारत में अंग्रेजों के द्वारा प्रवर्तित भूमि-पद्धति, सम्पति तथा स्वामित्व सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा पर आधारित थी। इससे खेती वाली अर्थव्यवस्था में आय का बंटवारा अन्यायपूर्ण हुआ। नतीजा यह हुआ कि जनता गरीब होती गई और उसकी कर्जदारी बढ़ती गई।

भारत में ऋणग्रस्तता की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी उसकी सभ्यता। ऋण की उपलब्धता उन चार अपरिहार्य परिस्थितियों में से एक थी जिनके कारण कोई भी स्थान रहने लायक बनता था। एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक में कहा गया है : 'मेरे पुत्र, उस स्थान पर न रहना जहां ये चार सुविधाएं न हो : महाजन, वैद्य, ब्राह्मण, ऋषि और पेय जल वाली नदी।' प्राचीन भारतीय ग्रंथों में ब्याज की दरों और पुनर्भुगतान के तौर-तरीकों का जिक्र है।[५] भारतीय लोक साहित्य ऋण और उससे जुड़ी समस्याओं के उल्लेख से भरे पड़े हैं।

यद्यपि ऋण की समस्या नई नहीं है, फिर भी इसमें ब्रिटिश शासन की स्थापना और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ संयोजनों के अलावे नई भू-राजस्व व्यवस्थाओं, अंग्रेजी कानून और न्याय के नए प्रबंध के लागू होने के बाद कुछ परिवर्तन हुए और उसमें नए आयाम जुड़ गए। यह सब कुछ हमारी चर्चा के क्रम में स्पष्ट हो जाएगा। आइए, सबसे पहले हम इस प्रश्न से आरंभ करें कि ग्रामीण जनता ने नकदी या वस्तुओं के रूप में कर्ज क्यों लिए और ऋणों के बढ़ते बोझ से वह क्यों आक्रांत हो गई।

ऋण की जरूरत उत्पादन और उपभोग, दोनों, आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पड़ी। अंग्रेजों द्वारा नई भू-राजस्व व्यवस्था लागू करने से उन किसानों के ऊपर लगान का बोझ बढ़ गया जिनके पास अपनी जोतों पर काश्तकारी के अधिकार थे। रैयतवारी क्षेत्रों में समय-समय पर लगान बढ़ाए जाने लगे जबकि स्थायी बंदोबस्त वाले इलाकों में लगान के अतिरिक्त अबवाब वसूले जाने लगे। इसके साथ ही भू-स्वामित्व संबंधी अधिकारों का इतना फैलाव हुआ कि सरकार और रैयत के बीच ढेर सारे बिचौलिए आ गए। फिर, अनेक मामलों में जमीन के असली काश्तकारों को अपनी जमीन पर कानूनी कब्जा नहीं रहा। वर्षों बाद यू.पी. जमींदारी एबोलिशन कमिटी ने लिखा :

इन बंदोबस्तियों के कारण लाखों लोगों को उन अधिकारों से वंचित कर दिया गया जो उन्हें दो हजार से भी अधिक वर्षों से प्राप्त थे; जमीन के पुश्तैनी खेतिहर मालिकों को मनमाना लगान वसूल किए जाने वाले गैर मौरूसी काश्तकारों में बदल दिया गया, और इस प्रकार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न की गई जिनसे निरंतर कलह और आर्थिक गिरावट तथा कृषि की अवनति आरंभ हो गई।

अनेक लोगों की उम्मीदों के बावजूद स्थायी बंदोबस्त किसानों को जमींदारों की मनमानी से नहीं बचा पाया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के बाहर भू-राजस्व के आरंभिक निर्धारण काफी ऊँचे रहे। 'उदाहरण के लिए, किसी जमाने में समृद्ध रहे बंबई डेक्कन के भू-भाग अंग्रेजों द्वारा १८१८ में अधिग्रहण के बाद भारी बोझ बन गए... कृषक समुदाय को आरंभिक निर्धारणों के कमरतोड़ प्रभाव से उबरने में लगभग २५ साल लग गए। मद्रास प्रेसिडेंसी में भी कृषक समुदाय की हालत भू-राजस्व की अत्यंत अधिक मांगों के कारण खुशहाली से काफी दूर रही।'

लगान तथा करों के भारी बोझ और काश्तकारी अधिकारों की अनिश्चितता के परिणामस्वरूप सामान्य वर्षों के दौरान भी बहुत थोड़ा निवल प्रतिफल ही रह पाता था। इतना ही नहीं, उनको कृषि कार्यों में निवेश के

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved

प्रति कोई उत्साह नहीं था। जिन वर्षों के दौरान बाढ़ों, टिड्डियों, सूखें और अकाल जैसी आपदाओं का प्रकोप होता था। उनमें किसानों को उपभोग और उत्पादन–संबंधी अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए उधार लेने के सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं होता था।

शहरी हस्तशिल्पों की अवनति ने अनेक दस्तकारेां को गांवों में जाकर सीमांत खेतिहरों अथवा भूमिहीन मजदूरों के रूप में कृषि में लग जाने के लिए मजबूर किया। इनलोगों को सामान्य वर्षों के दौरान भी अपनी उपभोग संबंधी जरूरतों को पूरा करने के लिए उधार लेना पड़ता था। गांवों में विनिर्मित मालों की पैठ होने से ग्रामीण दस्तकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, क्योंकि कपड़े, चमड़े की वस्तुओं, बर्तन आदि जैसे उनके उत्पादों के लिए मांग घट गई। फलस्वरूप उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ी और उन्हें जिंदा रहने के लिए कर्ज का सहारा लेना पड़ा।

महाजन और व्यापारी ही ऋण के मुख्य स्त्रोत थे। सांस्थानिक स्त्रोत यसा तो बिल्कुल नहीं थे अथवा महत्वहीन थे। अपने एकाधिकार की स्थिति का फायदा उठाकर महाजन बहुत उंची दरों पर ब्याज वसूलते थे और कर्ज लेने वाले पर काफी सख्त शर्तें थोपते थे। व्यापारीगण किसानों को मजबूर करते थे कि वे अपनी पैदावार उन्हीं को उन्हीं द्वारा निर्धारित कीमतों पर बेचें। जैसे ही कोई किसान कर्ज के फंदे में फंसता था वैसे ही उससे बाहर निकलने के सारे रास्ते बंद हो जाते थे। पुश्तैनी कर्जों के बोझ से किसान हमेशा कर्ज में डूबे रहते थे। प्रचलित कहावत यह थी कि अनेक भारतीय किसान ऋण में जन्म लेते, ऋण में जिंदगी बिताते और ऋण में ही मर जाते हैं। कभी–कभी किसानों को ब्याज संबंधी देनदारियों के एक भाग को चुकाने के लिए भी ऋण लेना पड़ता था।

इसके अलावे शादी–ब्याह, अंतिम संस्कार, और विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों जैसे सामाजिमक दायित्वों, और त्योहारों के कारण भी भारी व्यय होता था। प्रचलित मूल्यों, दृष्टिकोणों और प्रत्याशाओं को देखते हुए किसान के लिए सादगी अपनाना आसान नहीं था। विभिन्न सुधार–आंदोंलनों के बावजूद फिजूलखर्ची आम हो गई थी। के.एल. दत्त की रिपोर्ट आन दि इनक्वायरी इंदु दि राइज ऑफ प्राइसेज इन इंडिया के अनुसार अच्छे वर्ष के दौरान उसका अज्ञान और उसकी अदूरदर्शिता उसे अपना सारा अधिशेष शादी–ब्याह और आनंदोत्सवों पर खर्च करने को विवश कर देती हैं, और ऐसे अवसरों पर उसकी फिजूलखर्ची बहुधा अच्छे वर्षों के दौरान भी उसे महाजन के दरवाजे ले जाती है। कोई भी रैयत अपने किसी बच्चें को ब्याहने या मृतक के दाह–संस्कार करने अथवा सामाजिक अनुष्ठान के समय अपने संगी–साथियों से अधिक तड़क–भड़क दिखाने में कसर नही उठा छोड़ेगा।

एम.एल. डार्लिंग ने पंजाब के कृषक वर्ग–संबंधी अपने प्रसिद्ध अध्ययन में इस पर विस्तार से चर्चा की। उन्होंने मेजर जैक की जांच–पड़ताल का हवाला दिया जिसमें यह तथ्य उजागर हुआ था कि किसान द्वारा अपनी पूरे या आधे साल की आमदनी को घरेलू अनुष्ठानों अथवा आयोजनों, विशेषकर शादी–ब्याह पर खर्च कर देना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। १८८० के अकाल आयोग ने पाया कि शादी–ब्याह और अन्य आयोजन ऋण के प्रधान कारणों में थे। चार दशकों के बाद होशियारपुर के एक प्रातिनिधिक गांव में पाया गया कि लगभग ४० प्रतिशत मूल ऋण शादी–ब्याह और अन्य सामाजिक आयोजनों के कारण हैं। सोने की गिन्नियों, जेवरों और ऐसी ही अन्य चीजों की खरीद शादी–ब्याह के समय अपरिहार्य थी और बहुधा इसके लिए पैसे उधार लिए गए।

डार्लिंग ने रेखांकित किया कि शादी–ब्याह, दाह–संस्कार और सगाई कभी–कभार आने वाले अवसर नही थे जैसी कि कुछ लोगों की धारणा है :

पंजाब में लड़के की शादी, आमतौर से, सोलह या सतरह साल की उम्र में, और लड़की का ब्याह उससे एक या दो साल पहले होता है। इस प्रकार तीन व्यक्तियों के किसी परिवार का मतलब है : औसतन हर पांचवें या छठे साल एक शादी; फिर भतीजा या भतीजी की शादी भी करनी होगी; और शादी की कम उम्र के कारण सगाई अथवा दाह–संस्कार भी हो सकता है। दोनों में ही संभवतः इतनी रकम... खर्च होगी कि उसे एक निर्धन देश में हमेशा जुटाना कठिन होता है।

टैगोर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास गोरा में लिखा है : किसी भी अभिभावक के दाह–संस्कार के समय जो अंत्येष्टि कर्म किए जाते हैं वे माँ या बाप की मृत्यु से भी कहीं अधिक विपत्ति के कारण बन जाते हैं। इनके

मार्ग में निर्धनता अथवा असमर्थता को किसी भी रूप में आने नहीं दिया जाता है– इनको किसी न किसी तरह संपादित करना ही पड़ता है, समाज के हृदयहीन दायित्व को आखिरी छदाम तक पुरा करना ही होता है।

सामाजिक अनुष्ठानों के वास्ते लिए गए ऋण, आम तौर से, बहुत बड़े और अनुत्पादक हुआ करते थे। उनका पुनर्भुगतान आसान नहीं होता था। डार्लिंग ने सामाजिक अनुष्ठानों हेतु लिए गए कर्ज को सबसे घातक बतलाया क्योंकि कोई भी दूसरा 'कर्ज ऋण के ताबूत के साथ इससे अधिक मजबूती से कील लगा कर नहीं ठोकता।

किसी भी गांववासी द्वारा अनुत्पादक कर्ज लेने के दो अन्य कारण थे : बीमारी और मुकदमेबाजी। बीमारी के कारण न सिर्फ दवाओं और डॉक्टरी सलाह पर खर्च बढ़ जाता था बल्कि, यदि काम करने में सक्षम व्यक्ति बीमार होता तो, कृषिकार्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता था। मुकदमेबाजी मुख्यतया संपत्ति से संबंधित होती थी और वह वर्षों तक चलती रहती थी। दीवानी मुकदमें बहुधा उच्च न्यायालय तक जाते थे भले ही एक एकड़ से कम जमीन का मामला क्यों न हो। फौजदारी के मुकदमें भी, आम तौर से, जायदाद संबंधी विवादों से उत्पन्न होते थे और उन पर मोटी रकमें खर्च होती थीं जिन्हें उधार लेना पड़ता था।

अब तक हमने केवल उन्हीं कारणों का जिक्र किया है जिनके ग्रामीण जनता कर्ज लेने को विवश हो जाती थी। दूसरे शब्दों में, हमने ऋण के मांग पक्ष के कारकों की ही चर्चा की है। आइए, अब हम एक नजर आपूर्ति पक्ष पर डालें। कोई महाजन या व्यापारी कर्ज क्यों देता था? डार्लिंग के शब्दों में : 'अब तक ऋण के कारणों की विवेचना करते हुए हमने अपने को... उन्हीं कारणों तक सीमित रखा है जो किसी व्यक्ति को कर्ज लेने के लिए विवश करते हैं', आवश्यकता है कि अब ध्यान उन कारकों की ओर दिया जाए 'जो उसे' कर्ज लेने में 'सक्षम बनाते हैं'। इसके अलावा :

जो कर्ज सूखे और बीमारी, अलाभकार जोतों और शादी–ब्याह की फिजूलखर्ची वाली जिम्मेदारियों के कारण लिए जाते हैं उन सबकी जननी आवश्यकता है; परंतु आवश्यकता अपने आप में ऋण का पर्याप्त कारण नहीं बन सकती, भले ही उसका परिणाम कुछ भी हो। कोई भी कर्ज तभी लिया जा सकता है, जब कोई न कोई व्यक्ति ऋण देने को तैयार हो, फिर, कोई भी समझदार व्यक्ति ऋण देने के पहले अपने आपको जरूर आवश्वस्त कर लेगा कि उसके ऋण का पुनर्भुगतान हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, ऋण यह अभिधारणा लेकर चलता है कि न केवल ऋणी बल्कि ऋणदाता भी होता है, और आवश्यकता के साथ–साथ सुरक्षा भी होती है; और भारत जैसे देश में जहां आवश्यकता अधिक और लापरवाही आम है, यह कहा जा सकता है कि जितनी ही बेहतर सुरक्षा होगी उतना ही अधिक ऋण मिलेगा। इस प्रवृति की व्याख्या... देश में व्याप्त महाजनी की दुष्प्रणाली में मिलती है, जो खेतिहर की लापरवाही को बढ़ावा देकर उसके संसाधनों का शोषण करती है।

डार्लिंग ने कृषिजन्य समृद्धि और ऋणों के भार के बीच सीधा संबंध देखा। इसका मुख्य कारण यह था कि सिंचाई–सुविधाओं की व्यवस्था के परिणामस्वरूप किसान पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन बन गया था और उसकी नियति सिर्फ एक फसल पैदा करने की नहीं रह गई थीं। सिंचाई, विशेषकर कैनाल कालोनियों ने मानसून पर निर्भरता कम कर दी थी और इस प्रकार फसल अधिक सुरक्षित और निश्चित हो गई थी। यह बात उन सब इलाकों पर लागू थी जहां सिंचाई की सुविधाएं उपलब्ध थीं अथवा जहां उच्च मूल्य वाली फसलें राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय बाजार की शक्तियों को देखते हुए उगाई जाने लगी थीं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए बंबई डेक्कन के संदर्भ में कपास का उदाहरण दिया जा सकता है। इस बारे में हम आगे चलकर विस्तार से चर्चा करेंगे।

स्पष्टतया इसका मतलब था : तजमीन के मूल्य में तेज वृद्धि। आईए एक उदाहरण लें। पंजाब में १८६६ और १९२१–२६ के बीच जमीन की कीमत औसतन २४ गुना बढ़ी। १८६२–६३ में भूमि की बिक्री कीमत ७ सालों के कुल भू–राजस्व के बराबर थी जबकि १९३० में वह २६१ वर्षों के कुल भू–राजस्व के बराबर हो गई। यह बात केवल पंजाब के बारे में ही सही नही थीं। वहां से सुदूर बिहार के चंपारन में भी जहां नहरों का निर्माण हुआ था, जमीन की कीमतें तेजी से ऊपर चढ़ी थीं।

कुछ अन्य परिवर्तन भी हुए जिनका ऋण की आपूर्ति पर भारी प्रभाव पड़ा। इन परिवर्तनों ने महाजनों को उन किसानों को ऋण देने के लिए प्रोत्साहित किया जिनका अपनी जोत पर मौरूसी अधिकार था।

ग्राम-समुदाय की सत्ता में ह्रास से भी ऋण की आपूर्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। पहले भूमि पर ग्राम समुदाय का ही स्वामित्व होता था और उसे जोतने वाले व्यक्तियों का अधिकार उसके इस्तेमाल तक ही सीमित था। वे जमीन की खरीद-बिक्री नहीं कर सकते थे, क्योंकि जमीन निजी स्वामित्व की वस्तु नहीं थी।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजों द्वारा लागू की गई नई न्यायप्रणाली ने ऋण लेने वालों के ऊपर महाजनों का दबदबा काफी बढ़ा दिया। इसके लागू होने के पहले वे कर्जदार की जोतों पर कब्जा नहीं कर सकते थे और न ही जोतों की नीलामी हो सकती थी, परंतु इसके बाद सब कुछ बदल गया।

नई भू-राजस्व व्यवस्था और नई काश्तकारी की स्थापना, अपने संपूर्ण परंपरागत महत्व, ताकत और शक्ति सम्पन्न ग्राम-समुदाय के पतन; तथा नई न्यायप्रणाली के अपने नए कानूनों, नियमों, प्रक्रियाओं और विनियमों सहित आविर्भाव ने महाजनों के दबदबे के युग का उद्घाटन किया।

न केवल परंपरागत महाजनों, बल्कि वकीलों, डॉक्टरों, सरकारी अधिकारियों या यों कहें कि उन सब लोगों ने, जिनके पास लगाने को पैसे थे, काश्तकारी और भू-स्वामित्व संबंधी अधिकार प्राप्त करने की कोशिश की क्योंकि निवेश योग्य अधिशेष को लगाने का कोई दूसरा रास्ता नहीं था। साथ ही, जमीन से निश्चित नियमित आय मिलती थी और कालक्रम से भूमि के मूल्य में वृद्धि होने के साथ ही सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ती थी।

किसानों से अपेक्षा थी कि वे निर्धारित समय पर जमींदार या सरकार को लगान और उप-कर का भुगतान करेंगे। इसके अलावा उन्हें निर्धारित समय पर महाजनों को ब्याज का भी भुगतान करना पड़ता था। इसलिए वे फसल तैयार होते ही उसे बेचने के लिए बाजार जाते थे। वे कीमतों में होने वाली किसी भी संभावित वृद्धि की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। कई बार पैसों की सख्त जरूरत होने पर उन्हें खड़ी फसल बेचने को भी मजबूर होना पड़ता था। बड़ी संख्या में निर्धन किसानों और खेतिहरों को छह महीने अथवा उससे भी अधिक समय के लिए अपना पेट भरने के लिए अनाज खरीदना पड़ता था। अनाज खरीदते समय उन्हें जो कीमतें देनी पड़ती थीं वे जिन पर उन्होंने अपना अनाज बेचा था, उनकी तुलना में कई गुना अधिक होती थीं।

गल्ले का व्यापार करने वाले महाजन हमेशा जोर देते थे कि उनके द्वारा दिए गए कर्ज का पुनर्भुगतान अनाज के रूप में फसल तैयार होते ही किया जाए। चूंकि फसल तैयार होने के समय अनाज की कीमत कम होती थी इसलिए उन्हें अधिक मात्रा में अनाज मिल जाता था। उन्नीसवीं सदी के दौरान काफी लंबे अरसे तक महाजनों द्वारा वसूले जाने वाले ब्याज की दरों की न तो कोई सीमा थी और न ही उन पर कोई नियंत्रण था। न ही सरकार ने महाजनी व्यवसाय को विनियमित करने की कोशिश की। डेक्कन के दंगों के होने तक ऋण के वैकल्पिक स्त्रोत प्रदान करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

१. बी.बी. मिश्रा : दि इंडियन मिडिल क्लासेज - देयर ग्रोथ इन माडर्न टाइम्स (लंदन, १९६१), पृ. ३५०
२. जे.पी.एस.एस, जनवरी १८७४ (खंड-६,सं.३), पृ. १९-२०।
३. एच.आर., फरवरी १९०२, पृ. १४९-५१; और देखिए गोखले : स्पीचेज, पृ. २४।
४. दत्त : पीजंटरी इन बंगाल (कलकत्ता, १८७४), पृ. ४६ और आगे।
५. दत्ता, के.एल.; रिपोर्ट आन दि राइज ऑफ प्राइसेज (१९१४), पृ. ६७-७०
६. डॉ० वायलेकर, उद्धृत, भट्ट, बी०बी०; आस्पेक्ट्स ऑफ इकोनामिक चेन्ज एण्ड पालेसी इन इण्डिया, पृ. १३
७. मूरलैण्ड, डब्ल्यू० एच०; दि एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया, कैम्ब्रिज, १९२९, अध्याय १।
८. रिपोर्ट ऑफ दि इण्डस्ट्रियल कमीशन, १९१६, पृ. ६
९. बर्नियर एफ०; ट्रैवल्स इन दि मुगल एम्पायर (कान्स्टेबल एडीशन, रिवाइज्ड, वी०ए० स्मिथ), ऑक्सफोर्ड, १९३४, पृ० २५८-५९

2016, RHIMRJ, All Rights Reserved *ISSN:* 2349-7637 (Online)